
इकाई 27 आश्रम व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

- 27.0 उद्देश्य
- 27.1 प्रस्तावना
- 27.2 आश्रम व्यवस्था
 - 27.2.1 आश्रम पद की व्युत्पत्ति
 - 27.2.2 आश्रम व्यवस्था का उद्भव
 - 27.2.3 आश्रमों का विभाजन
 - 27.2.4 पुरुषार्थ की सिद्धि में सहायक
 - 27.2.5 व्यवस्थित तथा संयमित जीवन का आधार
 - 27.2.6 आश्रम व्यवस्था का महत्त्व
- 27.3 ब्रह्मचर्य आश्रम
 - 27.3.1 ब्रह्मचारी
 - 27.3.2 ब्रह्मचर्य के चार चरण
 - 27.3.3 ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की विधि
 - 27.3.4 ब्रह्मचारी के कर्तव्य
 - 27.3.5 ब्रह्मचारी के लिये त्याज्य
- 27.4 गृहस्थ आश्रम
 - 27.4.1 गृहस्थ आश्रम में प्रवेश
 - 27.4.2 गृहस्थ के कर्तव्य
 - 27.4.3 गृहस्थ के लिये त्याज्य
 - 27.4.4 गृहस्थाश्रम का महत्त्व
- 27.5 वानप्रस्थ आश्रम
 - 27.5.1 वानप्रस्थ हेतु उपयुक्त समय तथा रीति
 - 27.5.2 वानप्रस्थी के कर्तव्य
 - 27.5.3 वानप्रस्थाश्रम के प्रमुख उद्देश्य
- 27.6 संन्यास आश्रम
 - 27.6.1 संन्यासी की परिभाषा
 - 27.6.2 संन्यास आश्रम में क्रमशः प्रवेश
 - 27.6.3 संन्यास लेने की विधि
 - 27.6.4 संन्यासी के कर्तव्य
- 27.7 सारांश
- 27.8 शब्दावली
- 27.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 27.10 अभ्यास प्रश्न

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

27.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- आश्रम व्यवस्था के उद्भव से परिचित होंगे।
- आश्रमों का आयु के अनुरूप विभाजन को जान सकेंगे।
- ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी के कर्तव्याकर्तव्य से परिचित होंगे।
- गृहस्थाश्रम का महत्त्व तथा दम्पती के दायित्व का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- वानप्रस्थ आश्रम में वानप्रस्थी द्वारा किये जाने योग्य कर्मों से परिचित होंगे।
- संन्यास आश्रम की व्यवस्था को जान सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

प्रिय अध्येता! जैसा कि आप सबको विदित है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता को समूचे विश्व में अत्यन्त गौरव और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थचतुष्टय, वैदिक सम्पदा, नारी सम्मान, संस्कार विधान, आशौच निर्णय, दान परिकल्पना, शुद्धि कर्म, काल गणना जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण विषय हैं जो भारत की संस्कृति को अक्षुण्ण रखने में सतत लग्न रहे हैं।

‘शतं जीवेत् सुखं जीवेत्’, ‘जीवेम शरदः शतम्’ इस प्रकार की आशीर्वादात्मक तथा संकल्पात्मक पंक्तियाँ व्यक्ति के जीवन में 100 वर्ष की आयु होने की पुष्टि करती हैं। मनुष्य की आदर्श आयु 100 वर्ष की मानी गई है। इन सौ वर्षों को अनुशासित, व्यवस्थित और संयमित रूप से व्यतीत करने के लिये आयु के आधार पर आश्रमों की व्यवस्था की गई। सौ वर्ष की आयु को चार बराबर भागों में विभाजित किया गया। प्रत्येक आश्रम के लिये 100/4 के हिसाब से 25 वर्ष की अवधि निर्धारित की गई। जन्म से प्रारम्भिक 25 वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम, अग्रिम 25 वर्ष गृहस्थ आश्रम, तदनन्तर 25 वर्ष वानप्रस्थ आश्रम तथा अन्त के 25 वर्ष संन्यास आश्रम के लिये स्वीकार किये गए।

0 से 25 वर्ष	–	ब्रह्मचर्य आश्रम
25 से 50 वर्ष	–	गृहस्थ आश्रम
50 से 75 वर्ष	–	वानप्रस्थ आश्रम
75 से 100 वर्ष	–	संन्यास आश्रम

इन्हीं आश्रमों के बारे में हम इस इकाई में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

27.2 आश्रम व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था को व्यवस्थित तथा अनुशासित रूप से चलाने हेतु हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने आश्रम व्यवस्था की कल्पना की। भले ही आश्रम व्यवस्था की कल्पना वैदिक युग में की गई थी तथापि वर्तमान में भी यह व्यवस्था अप्रासंगिक नहीं है। संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य ‘रघुवंशम्’ में आश्रम व्यवस्था की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए स्पष्ट किया है कि वे ऐसे मनीषी रघुवंशियों का वर्णन करते हैं जो शैशवावस्था में विद्याभ्यास करते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करते हैं, यौवनावस्था में विषयों की अभिलाषा रखते हैं अर्थात् गृहस्थाश्रम के अनुरूप

आचरण करते हैं, वृद्धावस्था में मुनि के समान वृत्ति को धारण करते हैं तथा आयु की अन्तिम अवस्था में योग के माध्यम से देह त्याग देते हैं अर्थात् संन्यास आश्रम के अनुकूल आचरण करते हैं।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।। (रघुवंशम् 1/8)

27.2.1 आश्रम पद की व्युत्पत्ति

‘आ’ उपसर्गपूर्वक ‘श्रम’ धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से ‘आश्रम’ पद निष्पन्न होता है। सम्यक् प्रकार से श्रम किया जाता है जिसमें वह आश्रम पद से अभिहित है। श्रम का तात्पर्य यहाँ है नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित् उपासनादि कर्मों का शास्त्रोक्त विधान से अवस्थाविशेष, देश-काल-परिस्थिति विशेष में किया जाना। काम्य कर्मों का विधान तथा निषिद्ध का निषेध करते हुए जीवन चक्र का संचालन करना। ‘आ’ उपसर्ग यहाँ सम्यक् अर्थ का बोध करवा रहा है। आयु के प्रत्येक स्तर पर शास्त्रोक्त विधि-विधान से जीवनचर्या का आचरण करते हुए जीवन व्यतीत करना ही ‘आश्रम’ पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। सरल शब्दों में, पुरुषार्थों की प्राप्ति हेतु किया जाने वाला श्रम, प्रयास या उद्यम ही आश्रम है।

27.2.2 आश्रम व्यवस्था का उद्भव

वेदों में आश्रम व्यवस्था का सैद्धान्तिक रूप से उल्लेख प्राप्त नहीं होता किन्तु ऋग्वेद में ब्रह्मचारी, गृहपति, मुनि या यति जैसे पदों का उल्लेख प्राप्त होता है जो कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास व्यवस्था का चिह्न प्रतीत होता है।

ब्रह्मचारी चरति वे विषद् विषः सः देवानः भवत्येकमंगम्। (ऋग्वेद 10.109.5)

ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे (ऋग्वेद द्वितीय मण्डल)

येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविय। (ऋग्वेद अष्टम मण्डल)

यत्र-तत्र प्राप्त पद प्रयोग से यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में जीवन व्यवस्थित तो था किन्तु आश्रमों के नाम से (ब्रह्मचर्यादि भेद से) विभाजन प्राप्त नहीं था। उत्तरवैदिक काल में बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद में गृहस्थ तथा प्रवृज्या का क्रमोल्लेख है। (बृ.उ. 4.5.2) छान्दोग्योपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषदादि में भी प्रारम्भ के तीन आश्रमों का उल्लेख प्राप्त है किन्तु वह क्रमबद्ध नहीं है। सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थों में आश्रम व्यवस्था का क्रमशः उल्लेख प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रवृजेत्। (ऐ. ब्रा. 35.2)

कुछ उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीन ही आश्रम अनुशासित जीवन का आधार थे। उस युग तक पुरुषार्थ भी तीन ही स्वीकृत थे— धर्म, अर्थ और काम। कालान्तर में आध्यात्म के सूत्रभूत मोक्ष की भी पुरुषार्थों में गणना की जाने लगी और मोक्ष को जीवन का महत्त्वपूर्ण ध्येय मानते हुए संन्यास आश्रम को भी स्वतन्त्र स्थान दिया गया।

इस विचारधारा के पश्चात् चार आश्रमों की चर्चा प्रायः सभी धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों और स्मृतियों में प्राप्त होती है। पुराणों में भी आश्रम व्यवस्था को विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। ब्रह्माण्ड पुराण में भी बताया गया है कि राजा सगर के राज्य में आश्रम व्यवस्था का

अक्षरशः पालन होता था। कोई भी राजा ऐसा नहीं था जो कि अनाश्रमी हो—अनाश्रमी
द्विजः कश्चित् न बभूव। (ब्रह्माण्ड पुराण 3.50.7)

27.2.3 आश्रमों का विभाजन

मनुष्य की सम्पूर्ण व आदर्श आयु 100 वर्ष मानते हुए जीवन को चार भागों में विभाजित करके 25-25 वर्ष प्रत्येक आश्रम के लिये निर्धारित किये गए। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा संन्यास आश्रम। ब्रह्मचर्य आश्रम अध्ययन एवं ज्ञानार्जन हेतु, गृहस्थाश्रम जीविकोपार्जन, सन्तानोत्पत्ति तथा पंच महायज्ञों के नियमित अनुष्ठान से ऋणमुक्ति हेतु, वानप्रस्थाश्रम तपस्या कर्म हेतु तथा संन्यासाश्रम मोक्षप्राप्ति के साधनभूत योगसाधना हेतु निर्धारित किया गया। आश्रम व्यवस्था के इस क्रम की पुष्टि यह लौकिक श्लोक भी करता है।

आद्ये वयसि नाधीतं, द्वितीय नार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यति॥

27.2.4 पुरुषार्थ की सिद्धि में सहायक

भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थ बताए गए हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। विभिन्न आश्रमों में बताए गए विधानों का निष्ठापूर्वक पालन किया जाना अनिवार्य था। चार पुरुषार्थ और आश्रमों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बताया गया है। धर्म की प्राप्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में होती है। वेदादि का अध्ययन, ब्रह्मचर्य का पालन, गुरु की सेवा, उपनयन से संस्कारी बालक अपने अनुकूल आचरण से धर्म पुरुषार्थ की प्राप्ति कर पुण्य अर्जित करता है। अर्थ एवं काम की प्राप्ति गृहस्थाश्रम में होती है। ऋण से उन्मुक्त होने के लिये पुत्रोत्पत्ति का विधान है। गृहस्थ में प्रवेश करके काम सुख की प्राप्ति तथा गृहस्थी को चलाने के लिये जीविकोपार्जन द्वारा अर्थ की प्राप्ति भी गृहस्थाश्रम में होती है। चतुर्थ पुरुषार्थ का प्रारम्भ वानप्रस्थाश्रम से होता है तथा मोक्ष की प्राप्ति विभिन्न योग, साधनाओं, तपस्याओं के अभ्यास से संन्यासाश्रम में होती है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था चार पुरुषार्थों की प्राप्ति में भी सहायक है।

27.2.5 व्यवस्थित तथा संयमित जीवन का आधार

मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है मोक्ष प्राप्ति और जगत् में सहज रूप में प्राप्त हैं भौतिक सुख व सम्पत्ति। यदि पैदा होते ही व्यक्ति को मोक्ष हेतु ही प्रवृत्त किया जाए तो जीवन कुण्ठित तथा विकृत भी हो सकता है। प्रवृत्तिपूर्वक निवृत्ति का मार्ग सदैव श्रेयस्कर बताया गया है। मनुस्मृति भी इस बात का समर्थन प्रकट करती है –

अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुपद्य तथा सुतान्।

अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥ (मनुस्मृति: 4.371)

अर्थात् वह द्विज जो ब्रह्मचर्य आश्रम में वेदों को पढ़े बिना, गृहस्थाश्रम में सन्तानोत्पत्ति बिना, वानप्रस्थ आश्रम में आमुष्मिक सुखों की प्राप्ति के प्रयत्न के बिना (प्रव्रजन के बिना) सीधा संन्यास आश्रम में मोक्ष प्राप्ति की कामना करता है वह अधोलोक को जाता है अर्थात् नरक प्राप्त करता है। अतः समस्त आश्रमों के कर्तव्यों को करते हुए ही मोक्ष की प्राप्ति हेतु आगे बढ़ना चाहिये।

ये समस्त आश्रम उस चरम व परम पुरुषार्थ मोक्ष के साधन ही हैं। अतः आश्रमों का निर्वहण व्यवस्थित तथा संयमित जीवन जीने के लिये आवश्यक है। अन्यथा कोई भी

व्यक्ति आयु के किसी भी भाग में किसी भी पुरुषार्थ प्राप्ति हेतु प्रवृत्त दिखाई देने लगेगा जो कि उचित नहीं है। यदि कोई यह कहे कि मैं तो पहले मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करूँगा, यदि मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ तो गृहस्थ में प्रवेश करूँगा। इस प्रकार तो समाज में अव्यवस्था व्याप्त हो जाएगी। अतः जीवन को संयमित और सन्तुलित बनाने का आधार भी आश्रम व्यवस्था ही है।

27.2.6 आश्रम व्यवस्था का महत्त्व

1. भारतीय संस्कृति में इस मान्यता को अत्यन्त सम्मान और विश्वास के साथ स्वीकार किया गया है कि ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों में विहित कर्तव्यकर्मों का अनुसरण करने वाला व्यक्ति चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करता है। मनुस्मृति में भी कहा गया है –

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।

यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ (मनुस्मृति 6.88)

महाभारत में महर्षि वेदव्यास ने भी स्पष्टतः उल्लेख किया है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और भिक्षुक यदि अपने-अपने आश्रमानुकूल आचरण करते हैं तो परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।

यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ (महाभारत शान्ति पर्व, 24/2/19)

2. आश्रमों के विभाजन से व्यक्ति अपनी आयु के अनुरूप कर्म करता है जिससे उसका मानसिक विकास भी होता है।
3. समाज में परस्पर प्रेम एवं सौहार्द की भावना बनी रहती है। गृहस्थी अन्य तीन आश्रमियों का सम्मान करते हैं। वानप्रस्थी आदि अन्य भी अन्य-अन्य आश्रमवासियों का यथेष्ट सम्मान करते हैं।
4. आश्रम व्यवस्था के अध्यात्म प्रधान होने से व्यक्ति के जीवन में अलौकिक सुख के भी अनुभव होते रहते हैं।
5. सत्कर्म करते रहने से चारित्रिक श्रेष्ठता भी बनी रहती है जो कि दिव्यता प्रदान करती है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था आदर्श जीवन शैली के लिये महत्त्वपूर्ण है।

27.3 ब्रह्मचर्य आश्रम

‘ब्रह्म’ अर्थात् वेद और ‘चर्य’ अर्थात् आचरण। वेदोचित आचरण करना ब्रह्मचर्य है। वैदिक युग में वेद ही ज्ञान का स्रोत थे। मनुष्य की श्रेष्ठता उसके ज्ञान तथा शिक्षा के कारण थी। ज्ञान के द्वारा ही मानसिक तथा बौद्धिक उत्थान सम्भव है और ब्रह्मचर्य आश्रम ही ज्ञान प्राप्ति हेतु निर्धारित किया गया है। जन्म से लेकर 25 वर्ष की आयु तक द्विज ब्रह्मचर्याश्रम में रहता है। षोडश संस्कारों में से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपनयन, वेदारम्भ और समावर्तन नामक तीन संस्कार ब्रह्मचर्य आश्रम में ही होते हैं।

27.3.1 ब्रह्मचारी

ब्रह्मचारी वह है जिसके लिये ब्रह्म ही सब कुछ है। ब्रह्म ही समिध व अग्नि है। स्वयं ब्रह्म से उत्पन्न है। ब्रह्म ही जल है, ब्रह्म ही गुरु है, ब्रह्मचारी ब्रह्म में ही लीन रहता है, इन्हीं धारणाओं/मान्यताओं से युक्त होना ब्रह्मचर्य कहलाता है और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्रह्मचारी कहलाता है।

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भवः ।

आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥

एतदेवेदृश सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः ॥ (महाभारत आश्वमेधिकपर्व 26.17-18)

जो सदैव गुरु की सेवा में रत रहता है तथा संयमित आचरण करता है वही ब्रह्मचारी कहलाता है ।

ये गुरुन् पर्युपासन्ते नियताः ब्रह्मचारिणः । (महाभारत शान्ति पर्व 192/4)

ब्रह्मचारी के लक्षण बताते हुए महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में भी बताया गया है कि ब्रह्मचारी मूँज की मेखला धारण करे, जटायें धारण करे, नित्य स्नान व सन्ध्यावन्दन करे, यज्ञोपवीत धारण करे, स्वाध्याय करे, निर्लोभी हो, व्रतों का नित्यप्रति पालन करे, दण्ड व मृगचर्म धारण करे, भिक्षाचरण करे ।

दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत् ।

ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये ॥ (यज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याये 29)

मेखला च भवेत्सौजी जटी नित्योदकस्तथा ।

यज्ञोपवीति स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः ॥ (म. भा., आश्वमे. पर्व, 46/6)

इन सभी कार्यों को करते हुए ब्रह्मचारी गुरु की सेवा शुश्रूषा करता हुआ विद्यार्जन करता था । उसकी दिनचर्या अत्यन्त संयमित और अनुशासित होती थी । भिक्षाटन, गुरुसेवा, अध्ययन, शयन, समिधा संग्रह से लेकर स्वाध्याय तक के लिये समय निर्धारित होता था अतः ब्रह्मचारी का जीवन कठोर होता था । कहा गया है कि जो निष्ठावान् शिष्य प्रातः-सायं यज्ञ की सामग्री एकत्रित करता तथा गुरुकुल के समस्त निर्धारित कार्यों को नियमतः करता, उसे ज्ञान प्राप्ति अवश्य होती थी । ब्रह्मचारी के जीवन को अत्यन्त सम्मानजनक ब्रह्मरूप माना गया है ।

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिदं स्मृतम् । (म.भा., शा.प. 214.71)

27.3.2 ब्रह्मचर्य के चार चरण

महाभारत के उद्योगपर्व में वर्णित ब्रह्मचर्य के चार चरण शिष्य को गुरुभक्ति की ओर उन्मुख करते हैं । महाभारत के ही शान्तिपर्व में यह भी स्पष्टतया उल्लिखित है कि शिष्य अपनी आयु का चौथाई भाग गुरुकुल में ब्रह्मचारी के रूप में व्यतीत करे । गुरुकुल का निवासी रहे तब तक किसी की निन्दा न करे । धर्म व अर्थ पुरुषार्थ को समझे, गुरु तथा गुरुपुत्र की सेवा करे –

आयुषस्तु चतुर्भाग ब्रह्मचार्यनसूयकः ।

गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद् धर्मार्थकोविदः ॥ (महाभारत, शान्तिपर्व, 252-16)

ब्रह्मचर्य के चार चरण अधोलिखित हैं –

प्रथम चरण – शिष्य के द्वारा नित्य गुरु का अभिवादन किया जाए । शिष्य स्वाध्याय नित्य करे, अभिमान न करे तथा मन को शान्त रखे ।

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयित्वा स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः ।

मानं न कुर्यान्नादधीतरोष-मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः ।

ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ (महा.उ.प. 44.10-11)

द्वितीय चरण — शिष्य अपने मन, कर्म, वचन से, प्राणों से भी और धन से भी गुरु का हित करे। गुरु से तात्पर्य यहाँ गुरु परिवार से है। गुरुमाता तथा गुरुभाई अथवा गुरुबहिन सभी का सम्मान करे।

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।

कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥ (महा.उ.प. 44-12)

तृतीय चरण — गुरु के द्वारा जो भी कार्य किये जाते हैं उन्हें देखे तथा उनका चिन्तन करे। प्रसन्नचित्त होकर सदैव यह ध्यान रखे कि गुरु ही है जो मुझे नित्य ऊपर उठा रहा है। मेरी उन्नति का माध्यम गुरु ही है। यही ब्रह्मचर्य का तीसरा चरण है।

आचार्येणात्मकृतं विजानन् ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।

यन्मन्ते तं प्रति हृष्टबुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ महा. 5.9.44.14

चतुर्थ चरण — शिक्षा प्राप्ति के अनन्तर आचार्य को दक्षिणा दिये बिना कभी भी गुरुकुल नहीं छोड़ना चाहिये। दक्षिणा गुरु पर कोई उपकार नहीं है अपितु उनका सम्मान है अतः दक्षिणा चुपचाप देनी चाहिये, उसका कथन नहीं करना चाहिये।

नाचार्यस्थानपाकृत्य प्रवासं प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि।

इतीव मन्यते न भाषयेत् स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ (महा. उ.प. 44.15)

इस प्रकार ब्रह्मचर्य के चार चरण बताए गए हैं।

27.3.3 ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की विधि

ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश हेतु शिष्य को उपनयन संस्कार से संस्कृत होकर गुरु के समीप जाना होता है। उपनयन संस्कार की व्यवस्था ही इस हेतु से की गई थी कि ब्रह्मचारी गुरु के समीप जाते समय इस संस्कार को करवाए। ब्राह्मण बालक के लिये गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय के लिये ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य का उपनयन बारहवें वर्ष में करने का विधान प्राप्त है —

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भस्तु द्वादशे विशः ॥ (मनुस्मृति 2/36)

उपनयन संस्कार के पश्चात् शिष्य गुरु के समीप जाए तो सर्वप्रथम गुरु उसे अशौच का ज्ञान दे। आचार व्यवहार, अग्निसंरक्षण, सन्ध्या-उपासना, शास्त्रोक्त विधि से आचमन करना, अध्ययन के समय ब्रह्मांजलि मुद्रा में बैठना, हल्के व सादे वस्त्र पहनना, इन्द्रियों को वश में रखने का ज्ञान दे।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।

आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदंमुखः।

ब्रह्मांजलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ (मनुस्मृति 2/69-70)

इस प्रकार शिष्य उपनीत होकर ब्रह्मचर्य आश्रम में विधिपूर्वक प्रवेश करता है फिर गुरु उसे ब्रह्मचारी के कर्तव्यों और त्याज्य कर्मों का पाठ सिखाता है और वेदादि का अध्यापन व ज्ञान देना प्रारम्भ करता है।

27.3.4 ब्रह्मचारी के कर्तव्य

1. ब्रह्मचारी अनुशासित और संयमित जीवन जिये।
2. गुरुसेवा उसका प्रथम कर्तव्य कहा गया है।
3. यज्ञ हेतु सम्पूर्ण व्यवस्था का उत्तरदायित्व वहन करे।
4. आचार्य के समस्त कार्यों को अपना समझकर निष्ठापूर्वक पूर्ण करे।
5. ब्रह्मचारी को गुरु के बुलाते ही उसके सम्मुख अध्ययन हेतु उपस्थित हो जाना चाहिये। बिना कहे गुरु की सेवा, गुरु के जागने से पूर्व जागना, सोने के बाद सोना चाहिये। ब्रह्मचारी मृदुभाषी हो। जितेन्द्रिय हो। धैर्यशाली हो। सतर्क रहे। स्वाध्याय में तत्पर रहे। इस प्रकार का आचरण श्रेष्ठ बताया गया है।

आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वबोधः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी।

मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी।। (आदि पर्व 91/2)

6. ब्रह्मचारी का एक अनिवार्य कर्तव्य भिक्षाटन भी था। जिसका प्रमुख उद्देश्य था कि वो नम्र बने, स्वयं को किसी से ऊँचा या नीचा ना समझे। भिक्षा में जो अन्न प्राप्त हो, उसे पूरा गुरु को सौंप दे फिर गुरु के द्वारा दिया गया अन्न प्रसाद समझकर ग्रहण करे।
7. ब्रह्मचारी स्वभाव से सदैव विनम्र रहे, आध्यात्मिक चिन्तन करे, गुरु के द्वारा अनुभूत आध्यात्मिक रहस्यों का श्रद्धापूर्वक श्रवण करे। महाभारत में यह भी कहा गया है कि ब्रह्मचारी वेदमन्त्रों का जप एकाकी करे। अपने गुरु की निष्ठापूर्वक सेवा करे। मन व इन्द्रियों को वश में रखे, दीक्षा का सम्मानपूर्वक पालन करे, गुरु द्वारा बताए गए कर्तव्यों का अनुसरण करे। जैसा गुरु को अच्छा लगे वैसा आचरण करे।
8. ब्रह्मचारी शिष्य अपनी आयु का चतुर्थांश गुरुकुल में बिताए। किसी की निन्दा न करे। धर्म तथा अर्थ पुरुषार्थ को समझे। गुरु व गुरुपुत्र की सेवा करे।

आयुषस्तु चतुर्भागं ब्रह्मचार्यनसूयकः।

गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद् धर्मार्थकोविदः।। (महाभारत शान्तिपर्व 252/16)

9. ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुकुलनिवास करता हुआ शिष्य गुरु को अपनी सेवा से प्रसन्न कर आशीर्वाद प्राप्त करता था, एकाग्रचित्त होकर विद्या ग्रहण करता था और कई बार तो मोक्ष भी प्राप्त कर लेता था। कई ब्रह्मचारी सीधे संन्यासाश्रम में भी प्रविष्ट हो जाते थे।

एतेन ब्रह्मचर्येण देवादेवत्वमाप्नुवत्।

ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः।। (महाभारत उद्योगपर्व 44/10)

इस प्रकार ब्रह्मचर्य न सिर्फ इस लोक में अपितु परलोक के लिये भी कल्याणकारक बनता है। अभ्युदय का साधन बनता है।

27.3.5 ब्रह्मचारी के लिये त्याज्य

ब्रह्मचारी के लिये कृत्य कर्मों को हमने पढ़ा। इनके अतिरिक्त भी देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप ब्रह्मचारी को कुछ कर्म करने पड़ते हैं तथापि शास्त्रों में ऐसे कृत्य भी वर्णित हैं जो किसी भी परिस्थिति में ब्रह्मचारी के द्वारा त्याज्य हैं, यथा –

अभ्यंगमंजनचक्षणोरुपानच्छत्रधारणम् ।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥

द्यूतं च जनवादं च परीवादं तथाऽनृतम् ।

स्त्रीणां च प्रेक्षणा लम्भमुपघातं परस्य च ॥ (मनु. 2/178-179)

गन्ध चन्दनादि लेप, नेत्रों में अंजन लगाना, जूता पहिनना, छाता लेकर चलना, काम-क्रोध-लोभ से युक्त होना, नृत्य-गायन-वादन करना, द्यूतक्रीडा, समाज की निन्दा श्लाघा करना, असत्य भाषण करना, स्त्रियों को देखना, अकारण उन्हें स्पर्श करना, दूसरों को धोखा देना जैसे कृत्य ब्रह्मचारी के लिये वर्जित हैं।

अध्ययनकाल में शिष्य को आलस्य, निद्रा और तन्द्रा को त्याग देना चाहिये। सुख की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये। कर्मठ बनना चाहिये। संयमित आचरण रखकर ही वह यथोक्त व्यवहार कर सकता है। महाभारत में कहा भी गया है— सुखार्थी को विद्या कहॉ, विद्यार्थी को सुख कहॉ, सुख की इच्छा है तो विद्या का त्याग करो और विद्या की इच्छा है तो सुख का त्याग करो।

सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतो सुखम् ।

सुखार्थि वा त्यजेद् विद्या विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥ (उद्योग पर्व 4/6)

ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को मन के कालुष्य को पूर्णतया दूर कर देना चाहिये और स्वप्नदोष को न देखते हुए निद्रा का पूर्णतया त्याग कर देना चाहिये।

निष्कल्मषं ब्रह्मचर्यमिच्छता चरितुं सदा ।

निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता ॥

ब्रह्मचारी सदैव सत्कर्मों की ओर प्रेरित रहे। अध्ययन में विघ्नोत्पादक कर्मों से बचे। दुष्कर्म कदापि ना करे। भोगविलास की साधक सामग्रियों से दूर रहे। मधु, मांस, गन्ध, माला, चन्दन, रस, स्त्री, मणि आदि रत्न व प्राणि हिंसा का त्याग कर दे।

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।

शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ (मनुस्मृति 2.177)

27.4 गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद आयु का द्वितीय भाग गृहस्थ आश्रम के लिये निर्धारित किया गया है। गृहस्थ आश्रम में रहने वाले गृहस्थी अथवा गृहपति कहलाते थे। यह आश्रम चारों आश्रमों में श्रेष्ठ भी कहा गया है क्योंकि इसी आश्रम में धर्म, अर्थ तथा काम तीन पुरुषार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं।

27.4.1 गृहस्थ आश्रम में प्रवेश

‘ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेत्’ अर्थात् ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थी बने। महाभारत के शान्ति पर्व में स्वयं महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि धर्मप्राप्त्यनन्तर ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, अग्नि का संरक्षण करे, सन्तानोत्पत्ति करके गृहस्थव्रती बने।

धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः ।

द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधो भवेद्व्रती ॥ (म.भा.शा.प. 242/30)

ब्रह्मचर्य आश्रम से बौद्धिक सम्पदा अर्जित करके व्यक्ति सांसारिक सुख भोगने के लिये गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होता है। इस आश्रम में धर्मार्थकाम सेवन के अतिरिक्त भी गृहस्थी के यज्ञ करना, श्राद्ध करना, अशौच, तर्पणादि क्रियायें, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियों की सेवा, सत्कार तथा उनके सम्मान का ध्यान रखना जैसे महनीय कार्य भी थे।

27.4.2 गृहस्थ के कर्तव्य

गृहस्थी अर्थात् गृह में निवास करने वाला। 'गृहीणी गृहमुच्यते' भार्या के साथ घर में निवास करने वाला गृहस्थ कहलाता है। गृहस्थी का प्रमुख कर्तव्य होता है व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्व निभाना।

1. गृहस्थी का प्रथम कर्तव्य है गुणयौवन सम्पन्न कन्या से विवाह करना। विवाह संस्कारोपरान्त ही ब्रह्मचारी गृहस्थी बनता है।
2. पितृऋण से मुक्ति हेतु सन्तानोत्पत्ति करे। गुरु ऋण से मुक्ति हेतु स्वाध्याय-प्रवचन करे।
3. पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान – गृहस्थी का प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करने का विधान भी शास्त्र में प्राप्त है। (मनुस्मृति, 3.70)

स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञं पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो देवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

स्वाध्याय करना ब्रह्मयज्ञ है, पितरों के लिये तर्पण करना पितृयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, यागादि में बलि देना भूतयज्ञ है तथा अतिथि का सत्कार करना नृयज्ञ है। इस प्रकार पंचमहायज्ञ गृहस्थ को नित्यप्रति करने चाहिये। याज्ञवल्क्यस्मृति में पंच महायज्ञों को महामखाः कहकर इस प्रकार नामोल्लेख किया गया है –

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः ।

भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृतिः, 1/102

भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और नृयज्ञ इन पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान नित्य किया जाए।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।

पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ (मनुस्मृति, 3.69)

ब्रह्मयज्ञ – स्वाध्याय तथा वेदाध्ययन को ही ब्रह्मयज्ञ कहा गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करता है। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर गृहस्थी उन वेदवेदांगों की शिक्षा के आदर्श को स्वयं के व्यवहार में लाकर सन्तति तथा समाज को उस शिक्षा का हस्तान्तरण करता है। वेदानुगुण तपाचरण, ईश्वर की स्तुति, त्रिकाल सन्ध्या, मन्त्रजाल आदि का आचरण भी ब्रह्मयज्ञ में गिना जाता है। मनुस्मृति में कहा भी गया है –

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात् । (मनुस्मृति, 3.74)

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञम् । (मनुस्मृति)

पितृयज्ञ – माता-पिता की सेवा करना, उनकी आज्ञा पालन करना भी पितृयज्ञ कहा गया है। दिवंगत पूर्वजों के लिये तर्पण, नान्दी श्राद्ध आदि करके उनको तृप्त करना पितृयज्ञ कहा गया है। जीवित तथा मृतदेह पितरों के प्रति श्रद्धा से किया जाने वाला

यह यज्ञ श्राद्ध कर्म कहा जाता है। आचार्य मनु के अनुसार प्रतिदिन अन्न, जल, दूध तथा फलाहार से पितरों की तृप्ति हेतु तर्पण किया जाए तथा एक विप्र को भोजन करवाकर दक्षिणा दी जाए।

पृष्ट्वा स्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।

पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥ (मनुस्मृति, 3/91)

देवयज्ञ – अपने इष्ट देवता की स्तुति करना तथा यज्ञ में आहुति देकर उस हवि से देवताओं को प्रसन्न करना देवयज्ञ कहा गया है। अग्नि प्रज्वलित कर वेदमन्त्रोच्चारपूर्वक घृत, दधि, मधु आदि पदार्थों की आहुति देकर देवताओं को प्रसन्न करना देवयज्ञ है। जो भी यज्ञादि कर्म करे वो परमात्मा को अर्पित करे और देवताओं को प्रसन्न करके, “वे देवता हमारे ऊपर कृपा दृष्टि रखें और हमारा कल्याण करें”, ऐसी कामना करनी चाहिये।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

गृहस्थ अपने सामर्थ्य के अनुसार उपलब्ध वस्तु से यज्ञ कर्म करके पितरों का स्नेह प्राप्त करे।

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाहो नोदकेन वा।

पयोमूलफलैर् वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥ (मनुस्मृति, 3.82)

भूतयज्ञ – भूतयज्ञ को बलिवैश्वदेव यज्ञ भी कहा जाता है। गृहस्थ व्यक्ति का यह धर्म है कि वह प्रतिदिन अपने घर की अग्नि में पकाए गए भोजन की अग्नि में आहुति दे तथा देवताओं को अर्पण करे। महानस की अग्नि में थोड़ा सा भोजन आहुत किया जाए, भोजन का कुछ अंश कुत्ते, पतित, चाण्डाल, कुष्ठपीडित, रोगी, कौवे तथा कीटों के लिये अर्पित करना भूतयज्ञ है। भौतिक जगत् के समस्त प्राणियों की उदरपूर्ति के निमित्त से किया जाने वाला यह यज्ञ भूतयज्ञ कहलाता है।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निवपेद्भुवि॥ (मनुस्मृति, 3.92)

यह यज्ञ गृहस्थ को समस्त जीवों के भरण के लिये उत्तरदायी बनाता है तथा स्वार्थ की भावना से दूर करता है और मोक्ष के उज्ज्वल मार्ग पर आगे बढ़ाता है।

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।

स गच्छति परं स्थानं तेजो मूर्तिं पथार्जुना॥ (मनुस्मृति, 3/93)

नृत्यज्ञ – नृत्यज्ञ अर्थात् मनुष्य के लिये किया जाने वाला यज्ञ। अतिथि सत्कार, अतिथि की पूजा ही नृत्यज्ञ कहा गया है। भारतीय संस्कृति में अतिथि को देवता कहा गया है। ‘अतिथि देवो भव’। एक रात्रि गृहस्थ के घर में बिना पूर्व सूचना के आने वाला ब्राह्मण अतिथि कहा गया है।

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिब्राह्मणः स्मृतः।

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते॥ (मनुस्मृति 3/102)

अतिथि के लिये आसन, भोजन, पूजन तथा विश्राम की सेवाभाव से व्यवस्था करना नृत्यज्ञ कहा गया है। जल से आचमन कर उसे मीठी वाणी से सन्तुष्ट करना भी नृत्यज्ञ है।

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।

अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ (मनुस्मृति 3/99)

देवता, ऋषिगण, अतिथि, पितर तथा गृहदेवता के भोजनोपरान्त अवशिष्टांश को गृहस्थ ग्रहण करे यही उसका धर्म कहा गया है।

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितृन्गृह्याश्च देवताः ।

पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ (मनुस्मृति, 3/117)

गृहस्थ को आजीविका के लिये अपने वर्ण के अनुकूल कर्म करना चाहिये। धन प्राप्त करके ही वह पंचमहायज्ञों का सुचारु सम्पादन कर सकता है। दान देना भी गृहस्थ का परम कर्तव्य बताया गया है। गृहस्थाश्रम ही ऐसा आश्रम है जहाँ चार पुरुषार्थों में से धर्म, अर्थ तथा काम तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति हो सकती है और तीन पुरुषार्थों का सेवन करके ही व्यक्ति चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति उचित माध्यम से जीविकोपार्जन करके स्वयं का, परिवार का, जीव-जन्तुओं का तथा समाज का भरण-पोषण करते हुए सत्यनिष्ठा, सदाचार तथा अनुशासन का पालन करते हुए अनुशासित जीवन व्यतीत करता है। गृहस्थ को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि यमों का पालन करना चाहिये। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय आदि नियमों का भी श्रद्धापूर्वक पालन करना चाहिये।

27.4.3 गृहस्थ के लिये त्याज्य

गृहस्थ व्यक्ति के लिये दिन में सोने का निषेध किया गया है। रात्रि के पहले प्रहर में तथा अन्तिम प्रहर में सोने का भी निषेध है। प्रातः भोजन करे तथा सायंकाल भोजन करे। इसके अतिरिक्त मध्याह्न में भोजन न करे।

न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु ।

न भुंजीयादन्तराकाले । (महा.भा.शा.प. 243/6)

गृहस्थ किसी की निन्दा न करे। अहंकार कदापि न करे। हिंसा न करे। किसी के बिना दिये कोई वस्तु न ले। मधु, मांस का सेवन न करे। अपनी उपलब्धियों के प्रति आसक्त न हो।

27.4.4 गृहस्थाश्रम का महत्त्व

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्मात् ज्येष्ठाश्रमो गृही ।

अर्थात् गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य तीनों आश्रमवासी ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी गृहस्थ से ही उपकृत होते हैं। अतः गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा जाता है। समाज का संचालन, जगत् में गति तथा जगत् का विस्तार इसी आश्रम में होता है। पुरुष और स्त्री एक दूसरे के पूरक होते हैं। नर-नारी के बराबर सम्मान और अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की महत्ता का प्रायोगिक धरातल है गृहस्थाश्रम। चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि गृहस्थी ही अन्य तीनों आश्रमवासियों के भरण का ध्यान रखता है। भगवान् मनु ने भी कहा है –

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथमाश्रमाः ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।

गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः रात्रीनेतान् विभर्ति हि।।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।। (मनुस्मृति 3.78, 6.89.90)

गृहस्थाश्रम का महत्त्व बताते हुए मनु ने कहा है कि जिस प्रकार सभी जन्तु वायु का आश्रयण करके जीवित हैं उसी प्रकार समस्त आश्रमवासी गृहस्थ आश्रम का आश्रयण करके विद्यमान हैं।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।। (मनुस्मृति 3.77)

महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में कहा है कि जैसे समस्त जीव जन्तु माँ का आश्रय पाकर जीवित होते हैं। वैसे ही गृहस्थाश्रम का आश्रय पाकर अन्य आश्रम विद्यमान हैं। जैसे समस्त नदी-नाले सागर में जाकर आश्रय पाते हैं वैसे ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी भी गृहस्थ के यहाँ आकर आश्रय पाते हैं—

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्तिजन्तवः।

एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।

एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।। (म.भा.शा.प. 269.5, 295.39)

गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का आधार तथा उपकारक कहा गया है।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।

चत्वार आश्रमाः प्रोक्ता सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः।। (अनुशासनपर्व, 45/13)

27.5 वानप्रस्थ आश्रम

जीवन का तृतीय आश्रम है वानप्रस्थ आश्रम। वानप्रस्थ को प्राचीन युग में वैखानस नाम से भी जाना जाता था। वानप्रस्थ का अर्थ है— वन की ओर प्रस्थान करना, वनमेव प्रस्थः वानप्रस्थः। वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठतीति वानप्रस्थ तस्य भावः वानप्रस्थः।

नियमपूर्वक वन में निवास करना ही वानप्रस्थ है। वानप्रस्थी सदैव अग्नि को अपने साथ रखता है। उसे भी पंचमहायज्ञ करने की अनिवार्यता बताई गई है। गृहस्थाश्रम में धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ, दानादि करके भी कदाचित् मनुष्य अपने पितृ, ऋषि आदि ऋणों को चुका नहीं पाता है। अतः वानप्रस्थ में भी यज्ञ की अनिवार्यता है।

27.5.1 वानप्रस्थ हेतु उपयुक्त समय तथा रीति

सामान्य गणना के अनुसार तो आयु का तीसरा भाग वानप्रस्थ है, वानप्रस्थी को अग्नि को संरक्षित रखते हुए धार्मिक कृत्य करते रहना चाहिये —

तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत्।

तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः।। (म.भा.शा.प.)

इसी प्रसंग में यह भी स्पष्टतया उल्लिखित है कि गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का सम्यक्तया निर्वाह करके वानप्रस्थ में प्रवेश किया जाए अर्थात् अपने सांसारिक दायित्वों को पूर्ण करके, धन अर्जनादि के दायित्व से निवृत्त होकर, ऋणमुक्त होकर, गृहस्थी का भार पुत्र के कंधों पर डालकर सभी प्रकार के कर्तव्य समाप्त करके वानप्रस्थ को गमन किया जाना चाहिये।

सदारो वाऽप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः।

वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहस्थाश्रमात्॥ (महाभारत शान्ति पर्व 60.4)

पत्नी को साथ लेकर या छोड़कर भी वानप्रस्थ को गमन किया जा सकता है। अकेली पत्नी भी वानप्रस्थ को जा सकती है, यथा – महाभारत में स्व. महाराज पाण्डु की भार्या कुन्ती अपने ज्येष्ठ धृतराष्ट्र तथा उनकी भार्या गान्धारी के साथ वन को गई थी।

आहूय पाण्डवान् वीरान् वनवासे कृतक्षणः।

गान्धारी सहितो धीमानभ्यनन्दद् यथाविधिः॥

जगामेव तदा कुन्ती गान्धारीं परिगृह्य ह। (महाभारत आश्रमवासिकपर्व 15.1)

जब गृहस्थी अपने शरीर में झुर्रियाँ देखे तथा केशों में सफेदी देखे, जब उसकी सन्तान के भी सन्तान हो जाए, तब उसे वन को चले जाना श्रेयस्कर है। गृहस्थ की समस्त भौतिक सुख-सुविधाओं का त्याग करके सपत्नीक अथवा पत्नी को पुत्रादि के संरक्षण का दायित्व सौंपकर वनगमन प्रशस्त्य कहा गया है –

गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपलितमात्मनः।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।

पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥ (महाभारत शान्ति पर्व 6.2-3)

महाकवि कालिदास भी रघुवंशियों का वर्णन करते समय वानप्रस्थ को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि जब पुत्र गृहस्थी का भार उठाने में समर्थ हो जाए, उसके भी सन्तान हो जाए, तब गृहस्थ को जीवन के अगले चरण की ओर पदार्पण करना चाहिये। रघुवंश महाकाव्य में राजकुमार अज के युवा होने पर राजकाज का भार राजा रघु अपने पुत्र को सौंपकर शान्तिमार्ग की ओर बढ जाते हैं –

तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभूत्।

न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥ (रघुवंश 7.71)

प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित कुलों की भी वानप्रस्थी परम्परा का उल्लेख रघुवंश में प्राप्त होता है –

मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये।

गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्॥ (रघु. 3.90)

व्यावहारिक धरातल पर यदि चिन्तन किया जाए तो 50 वर्ष की आयु में इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं। व्यक्ति उतनी ऊर्जा से अर्थोपार्जन अथवा कामभोग में सक्रिय नहीं रह पाता अतः उसे परम पुरुषार्थ मोक्ष के साधनभूत वानप्रस्थ हेतु सहर्ष गमन करना चाहिये।

वानप्रस्थाश्रम को गृहस्थ से भी श्रेष्ठ बताया गया है महाभारत के शान्तिपर्व में इसका विस्तार से उल्लेख है कि शरीर को सुखाकर अस्थिचर्म मात्र बचाने वाले तथा वन में रहकर तपस्यापूर्वक शरीर का त्याग करने वाले ही सच्चे वानप्रस्थी हैं –

अतः परं परममुदारमाश्रमं तृतीयमाहुस्त्यजतां कलेवरम् ।

वनौकसं गृहपतिनामनुत्तमं शृणुष्व संश्लिष्टशरीरकारिणाम् ॥ (महाभारत शान्तिपर्व 243.29)

27.5.2 वानप्रस्थी के कर्त्तव्य

प्रत्येक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिये कुछ नियम बने होते हैं। यहाँ हम वानप्रस्थी के कर्त्तव्यों को जानेंगे।

1. वानप्रस्थी अन्न, शाक, मूल अथवा फल से ही पंच महायज्ञों का विधिपूर्वक विधान करे।

मुन्यन्यैर्विधिर्मध्यैः शाकमूलफलेन वा ।

एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ (मनु. 6.5)

2. मृगचर्म अथवा वल्कल वस्त्र पहने, प्रातः सायं स्नान करे, नख केश कर्तन न करे, स्वाध्याय करे, जितेन्द्रिय बने, सर्वमित्रसमभाव रहे, संयमित रहे, दान व दया का भाव रखे।

वसीत चर्मचीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ।

जयश्च विर्भयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।

दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ मनु. 6.6, 8

3. विधिपूर्वक वैतानिक अग्निहोत्र का अनुष्ठान करे। हवनादि करे। भूमि पर शयन करे। ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तप करे। वर्षाऋतु में खुले आकाश के नीचे तप करे। हेमन्त ऋतु में आर्द्र वस्त्रों में तप करे। त्रिकाल सन्ध्या व तर्पण करे। कठोर तप से काया को क्षीण कर दे।

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ।

स्नानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥

ग्रीष्मे पंचतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।

आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ।

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत् ।

तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः ॥ (मनु. 6.22-24)

4. जीवन निर्वाह हेतु ब्रह्मचारी, गृहस्थी तथा संन्यासियों से भिक्षा मांगे। संचय की वृत्ति ना रखे।
5. वानप्रस्थ हेतु शास्त्रों में कहे गए नियमों का पालन करे। विद्या और तप की वृद्धि के लिये नित्य स्वाध्याय करे।

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।

विविधाश्चौपनिषदौरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।

विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ (मनु. 6.29-30)

याज्ञवल्क्यस्मृति तथा महाभारत भी वानप्रस्थी के उक्त कर्तव्यों से सम्मत हैं। अतः स्पष्ट है कि वानप्रस्थी को वन में ही रहना, वहीं के अनुसार वस्त्र और भोजन ग्रहण करना, अतिथि सत्कार, इन्द्रिय दमन, ब्रह्मचर्य का पालन आदि शास्त्रोक्त नियमों का पालन करते हुए संन्यास आश्रम की ओर उन्मुख होना चाहिये।

27.5.3 वानप्रस्थाश्रम के प्रमुख उद्देश्य

1. वानप्रस्थाश्रम का प्रमुख उद्देश्य यह है कि व्यक्ति अपने जीवन की प्रौढावस्था में वैराग्य की ओर प्रवृत्त हो।
2. वह सादा जीवन उच्च विचार रखे।
3. भौतिक सुख सुविधाओं से विरक्त रहे।
4. कन्द मूल फलादि वन्य भोजन खाए तथा वन्य वस्त्र धारणकर मानसिक पवित्रता रखे।
5. अधिक से अधिक समय स्वाध्याय करे।
6. अपने जीवन में नैतिक गुणों को अपनाकर सदाचरण करते हुए ही धर्म की साधना करे।
7. वानप्रस्थ गृहस्थ जीवन और संन्यास की निर्जनता के मध्य एक योजक कड़ी है।
8. मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये साधना एवं तपस्या से मुमुक्षु बनाने का सोपान वानप्रस्थ काल है।
9. अन्तःकरण शुद्धि वानप्रस्थाश्रम का मुख्य उद्देश्य है।
10. महाभारत के शान्तिपर्व में महर्षि वेदव्यास ने बताया है कि सप्तर्षिमण्डल, अगस्त्यादि ऋषि तथा ब्राह्मण लौकिक सुखों से दूर रहकर, व्रत उपवास आदि तप करके, धर्मपरायण रहकर, जितेन्द्रिय बनकर, धर्मजिज्ञासु रहते हुए वानप्रस्थियों के नियमों का यथाविधि पालन करते थे, इसी अनुशासित तथा तापसी जीवन शैली के कारण वे आकाशमण्डल में ज्योतिर्मय तारों के प्रतिष्ठित पद को प्राप्त कर चुके हैं। अतः वानप्रस्थ में अनुशासित आचरण प्रतिष्ठित पद प्राप्ति में सहायक है –

कर्मभिस्ते निरानन्दा धर्मनित्या जितेन्द्रियाः।

गताः प्रत्यक्षधर्माणस्ते सर्वे वनमाश्रिताः॥

अनक्षत्रास्वनाधृष्या दृश्यन्ते ज्योतिषां गणाः॥ (शा.प. 244.21-22)

27.6 संन्यास आश्रम

आश्रम व्यवस्था का अन्तिम तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आश्रम है संन्यास आश्रम। 100 वर्षीय जीवन के अन्तिम पच्चीस वर्ष संन्यास आश्रम हेतु निर्धारित किये गए हैं। ब्रह्मचारी कभी-कभी किसी अन्य आश्रम में (गृहस्थ व वानप्रस्थ में) प्रवेश किये बिना सीधे संन्यास आश्रम में चले जाते थे। तथापि सोपान पर क्रमशः आरोहण ही श्रेयस्कर कहा गया है।

27.6.1 संन्यासी की परिभाषा

संन्यास का अर्थ है— सम्यक् त्याग अर्थात् जहाँ मनुष्य पूर्णतया भौतिकता से विरक्त हो जाता है। भगवद्गीता के अनुसार कर्म द्विधा परिगणित हैं। काम्य कर्म तथा कर्तव्य कर्म। किसी कामना विशेष से किये जाने वाले कर्म काम्य कर्म तथा जीवित रहने मात्र

के लिये किये जाने वाले नित्य कर्म हैं जिन्हें कर्त्तव्य कर्म भी कहा जाता है। काम्य कर्मों का पूर्णतया परित्याग तथा कर्त्तव्य कर्मों के फल का सर्वविध परित्याग संन्यास है—

**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥** (श्रीमद्भगवद्गीता 18.21)

संन्यासाश्रमोचित कर्मों को विधिपूर्वक करने वाला संन्यासी कहलाता है।

**अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्यथाऽक्रियः॥** (श्रीमद्भगवद्गीता 6.2)

अर्थात् मात्र अग्नि का त्याग कर देने वाला अथवा निष्क्रिय रहने वाला ही संन्यासी या योगी नहीं बन जाता अपितु कर्त्तव्य कर्म करते हुए उसके फल के प्रति अनासक्त व्यक्ति ही संन्यासी होता है।

27.6.2 संन्यास आश्रम में क्रमशः प्रवेश

स्मृतियों और पुराणों में अनेकत्र आश्रम व्यवस्था के क्रम का उल्लेख प्राप्त होता है। मनुष्य को आयु के तृतीय भाग में वन में निवास करके चतुर्थ भाग में समस्त जागतिक पदार्थों से अनासक्त होकर संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

**वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत्॥** (मनुस्मृति 6/33)

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम के अनन्तर ही संन्यास आश्रम में प्रवेश का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि संन्यास आश्रम का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष चार पुरुषार्थों में अन्तिम पुरुषार्थ है। धर्म की प्राप्ति ब्रह्मचर्य सहित तीनों आश्रमों में होती है। अर्थ और काम की प्राप्ति गृहस्थाश्रम में होती है। अवशिष्ट पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति हेतु संन्यासाश्रम है। प्रारम्भिक तीन पुरुषार्थ भी मनुष्य को अर्जित करके फिर मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होना चाहिये। देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषिऋण से मुक्त होकर ही संन्यासी को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये और इन तीनों ऋणों से मुक्ति ब्रह्मचर्य से लेकर वानप्रस्थ तक क्रमशः हो जाती है। एक आश्रम से दूसरे, तीसरे व क्रमशः चौथे में प्रवेश करते हुए मनुष्य जितेन्द्रिय, दानी, कर्मशील, धैर्यशाली तथा संयमी बन जाता है और आश्रमोचित कर्म करते हुए विभिन्न ऋणों से मुक्त होकर संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होता है —

**आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते॥
ऋणानि प्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यथः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रपौत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत्॥** (मनुस्मृति 6.34-36)

जैसा कि वानप्रस्थ आश्रम की चर्चा में हमने यह जाना कि तपस्या के द्वारा वानप्रस्थी अपने शरीर को क्षीण कर ले तथा मन को भी विषयों से विरक्त कर ले एवं मोक्षमार्ग पर प्रवृत्त होने की पूर्वसज्जा कर ले। पूर्णतया विरक्त व्यक्ति ही संन्यास के मार्ग पर

चलकर ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। महाभारत सहित अनेक पुराणों तथा स्मृतिग्रन्थों में इस आश्रम में प्रवेश हेतु निर्धारित क्रम का निष्ठापूर्वक पालन करना अनिवार्य बताया गया है।

27.6.3 संन्यास लेने की विधि

वानप्रस्थी जब अपना सर्वस्व दान दे देता है यज्ञीय अग्नि को भी आत्मा में स्थित कर लेता है तब संन्यासी बनता है।

अथ त्रिष्वश्रमेषु पक्वकषायः प्राजापत्यामिष्टिं

कृत्वा सर्व वेदं दक्षिणां प्रब्रज्याश्रमी स्यात्।

आत्मन्यग्नीनारोप्य भिक्षार्थं ग्राममियात्।। (विष्णु स्मृति अध्याय 96)

संन्यासी अपनी आत्मा में अग्नि रखता है अथर्ववेद में इसका प्रमाण प्राप्त है। संन्यासी का सान्निध्य आहवनीय अग्नि, निवास गार्हपत्य अग्नि, जठराग्नि ही दक्षिणाग्नि होती है। उसकी आत्मा में ज्ञानाग्नि जलती रहती है। अतः उसे भौतिक अग्नि से कोई प्रयोजन नहीं रहता।

प्राजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति। योऽतिथीनां य आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः। (अथर्ववेद 9/6/29-30)

अथर्ववेद में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि वानप्रस्थ आश्रम से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते समय प्राजापत्य यज्ञ की अनिवार्यता है और प्राजापत्य यज्ञ की विधि के अनुसार यज्ञ करने वाला व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को दक्षिणा के रूप में दान देकर अग्नि को आत्मा में अवस्थित करके संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। स्मृतिग्रन्थ भी इस पक्ष को निर्विकार स्वीकार करते हैं –

वनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम्।

प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि।। (याज्ञवल्क्य स्मृति 3/56)

27.6.4 संन्यासी के कर्तव्य

संन्यास आश्रम के वर्णन क्रम में धर्मग्रन्थों में संन्यासी के अनेक कर्तव्य बताए गए हैं –

1. वह समस्त भूतों को अभय प्रदान करे। समस्त भूतों को अभय देने वाला संन्यासी स्वयं भी तेजोमय लोक को प्राप्त करता है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रब्रजेद् द्विजः।

लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्तमश्नुते।। (महाभारत शान्तिपर्व, 244.28)

2. संन्यासी जीवनमात्र हेतु भोजन करे। भोजन में रसास्वाद न ले। भिक्षा में प्राप्त भोजन ही करे।
3. एकान्तवास करे। तपस्या में लगा रहे। मोक्ष चिन्तन के अतिरिक्त कोई चिन्तन न करे।
4. जितेन्द्रिय रहे। विषयों के प्रति मानसिक आसक्ति भी न रखे।
5. निर्भय रहे तथा अपने आपसे जगत को भी निर्भय रखे। सर्वदा शान्त, सरल और प्रसन्न वदन रहे।

6. लौकिक अग्नि को अपने साथ न रखे। जिसने अग्नि को आत्मा में बसा लिया हो, ऐसा बने।
7. संचय की वृत्ति ना रखे। भिक्षा के लिये कपाल का आश्रय ले।
8. द्वन्द्वों की दशा में संन्यासी तटस्थ रहे। द्वन्द्वों से निर्लिप्त रहे। हानि-लाभ, सुख-दुःख, शीत-ऊष्ण सभी द्वन्द्व समभाव से देखे।
9. संन्यासी को अन्धेरे में गमन नहीं करना चाहिये। आगे देखकर कदम बढ़ाना चाहिये। शुद्ध जल से ही समस्त कार्य करने चाहिये। सत्य, अहिंसा, अनिंदा, अदोषता, माधुर्य, सौम्यता आदि गुणों से युक्त प्रांजल वाणी बोलनी चाहिये।

नासूर्यं हि ब्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत् ।
परिभूताभिरदिभस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः ॥

सत्यां वाचमहिंसां च तदेदनपकारिणीम् ।

कल्कापेतामपुरुषामनृशंसामपैशुनाम् ॥ (मनुस्मृति 6/45)

ब्रह्मप्राप्ति को अक्षय सुख माने तथा सांसारिक सुखों को क्षणिक तथा मिथ्या मानते हुए धर्माचरण करता हुआ मोक्ष मार्ग पर प्रवृत्त हो।

वेद, स्मृति, पुराणशास्त्रोक्त आचरण एवं तपश्चरण करे और पुरुषार्थ सिद्धि में रत रहे। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा व ध्यान को क्रमशः साधता हुआ रागादि दोषों से मुक्त होकर ब्रह्मप्राप्ति हेतु तत्पर रहे।

प्राणायामैर्देहदोषान्धारणाभिश्च कित्विषम् ।

प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ मनुस्मृति, 6/72

संन्यास आश्रम का एकमात्र लक्ष्य परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है। अन्य तीन आश्रम धर्म, अर्थ अथवा काम प्राप्ति में प्रवृत्त होते हैं किन्तु संन्यास आश्रम का गन्तव्य स्वयं ब्रह्म है।

27.7 सारांश

भारतीय संस्कृति अपनी व्यवस्थित जीवन-शैली तथा संयमित आचरण के कारण अनुकरणीय है। इस पूज्य संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है आश्रम व्यवस्था। मनुष्य की आदर्श आयु को सौ वर्ष मानते हुए उसके चार बराबर भाग किये गए हैं तथा पच्चीस-पच्चीस वर्ष के ये चार भाग चार आश्रम कहलाए। जिन्हें ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा संन्यास आश्रम के नाम से जाना गया।

आयु के जिस पड़ाव में मनुष्य को जिस प्रकार के कर्म करने चाहिये अथवा जैसी मनोवृत्ति रखनी चाहिये, उसी के अनुसार इन चारों आश्रमों की संकल्पना की गई। इनके कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था की गई जिससे सामाजिक व्यवस्था सुचारु रूप से चल सके। मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है मोक्ष प्राप्ति। उस परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिये भारतीय संस्कृति में आश्रमरूपी सोपान रचे गए जिन पर अग्रसर होता हुआ व्यक्ति परम गति को प्राप्त करता है।

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता ।

एतामारुह्य निःश्रेणी ब्रह्मलोके महीयते ॥

ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करके गुरु की सेवा व आश्रम के नियमों का पालन करते हुए गुरुकृपा से वेद वेदांग तथा अन्य शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करता है। उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरुकुल में अध्ययन, यजन आदि करते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम का काल व्यतीत करता है। समावर्तन संस्कार से संस्कृत होकर व्यक्ति विवाह संस्कार से संस्कारित होता है तथा शास्त्रोक्त नियमों का पालन करते हुए गृहस्थ के धर्म का निर्वाह करता है। अन्य सभी आश्रमों का सहायक बताता है। पचास वर्ष की आयु से 75 वर्ष तक की आयु वानप्रस्थ के लिये निर्धारित की गई है जिसमें व्यक्ति घर से दूर रहकर मोक्ष मार्ग में प्रविष्ट होने की तैयारी करता है। अन्तिम संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होकर संन्यासी तप के द्वारा ब्रह्म में अवस्थित होने के समस्त उपक्रम करता है तथा मोक्ष प्राप्त करता है। आश्रम व्यवस्था समाज को परस्पर सहयोग का भाव सिखाती है तथा मनुष्य को अपना जीवन आदर्श रूप से जीने की प्रेरणा देती है।

27.8 शब्दावली

शैशव	—	नवजात अवस्था से बाल्यावस्था पर्यन्त काल
तनु	—	शरीर
गृहस्थी	—	गृहस्थ आश्रम में रहने वाला
अधीत्य	—	पढकर के
भिक्षुक	—	भिक्षा माँगने वाला

27.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय संस्कृति – डॉ. किरण टण्डन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2007
2. महाभारत (पंचम खण्ड) शान्ति पर्व, मोतीलाल बनारसीदास, गोरखपुर, 1969
3. महाभारत (प्रथम खण्ड) आदिपर्व, सभापर्व, मोतीलाल बनारसीदास, गोरखपुर, 1969
4. महाभारत, भीष्मपर्व, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, बसन्त श्रीपाद सातवलेकर पारडी
5. महाभारत (तृतीय खण्ड), भीष्मपर्व व उद्योगपर्व, मोतीलाल बनारसी दास, गोरखपुर
6. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, श्रीद्वारकाप्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, 1930
7. मनुस्मृति, श्रीमती उर्मिला रस्तोगी, परिमल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2005
8. याज्ञवल्क्य स्मृति, श्री उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत ऑफिस सिरीज, वाराणसी, 1967
9. रघुवंशम्, श्रीधरपाठक, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1985
10. आश्रम व्यवस्था (वैदिक मर्यादाओं के आलोक में), महात्मा गोपाल स्वामी, चौखम्बा पब्लिकेशन, वाराणसी, 2014
11. भारतीय संस्कृति, प्रो. वाई.एस. रमेश, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2007
12. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, (प्रथम भाग), हिन्दी समिति, लखनऊ, 2000

13. ऋग्वेद संहिता, रूपकिशोर, महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेद विद्या प्रतिष्ठान, उज्जयिनी, 2012
14. भारतीय संस्कृति, डॉ. दीपक कुमार, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2018

27.10 अभ्यास प्रश्न

1. ब्रह्मचारी के कर्तव्यों पर प्रकाश डालिए।
2. गृहस्थाश्रम पर टिप्पणी लिखिए।
3. वानप्रस्थाश्रम के मुख्य उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।
4. आश्रम व्यवस्था पर विस्तृत निबन्ध लिखिए।

